

# अद्वैत का बोध — शास्त्र से सत्य तक

Aadisatv

- अद्वैत का बोध — शास्त्र से सत्य तक
  - Chapter 1 — अद्वैत क्या है — और क्या नहीं है
  - Chapter 2 — माया: वो जो है भी, और नहीं भी
  - Chapter 3 — आत्मा: वो जो कभी बंधा नहीं
  - Chapter 4 — गुरु और शास्त्र: दो किनारे, एक नदी
  - Chapter 5 — जीवन्मुक्ति: मुक्ति जीते जी
  - Chapter 6 — महावाक्य: चार शब्द, एक सत्य
  - Chapter 7 — बोध: जब समझ नहीं, जागरण होता है

# अद्वैत का बोध — शास्त्र से सत्य तक

लेखक: Aadisatv

# Chapter 1 — अद्वैत क्या है — और क्या नहीं है

अद्वैत कोई मत नहीं है। मत मन में रहता है; अद्वैत वह है जिसमें मन भी आता-जाता दिखाई देता है। इसलिए अद्वैत को समझना भर पर्याप्त नहीं, क्योंकि जो समझता है वही उसका पहला आवरण है। जब तक अद्वैत एक विचार है, तब तक वह द्वैत ही है: एक जानने वाला, एक जाना हुआ, और बीच में ज्ञान की धारा। सत्य में यह तीनों भेद टिकते नहीं। वहाँ जानना भी अपने मूल में लौट जाता है, और बचता है केवल वह प्रकाश जिसमें जानना और न जानना दोनों प्रकट होते हैं।

माण्डूक्य उपनिषद् इसी कारण आरम्भ से ही अस्तित्व को किसी दूर ईश्वर, किसी दूर लोक, किसी दूर भविष्य में नहीं रखता। वह कहता है: जो है, अभी है; जो था और जो होगा, वह भी इसी एक अक्षर में समाहित है।

**ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥**

— स्रोत: माण्डूक्य उपनिषद् 1

**अन्वयः** ॐ — यह अक्षर; इदम् सर्वम् — यह सब; भूतम् — जो बीत गया; भवत् — जो अभी है; भविष्यत् — जो आने वाला है; सर्वम् ओंकारः एव — सब ओंकार ही है; यत् अन्यत् त्रिकालातीतम् — जो तीनों कालों से परे है; तत् अपि — वह भी; ओंकारः एव — ओंकार ही है।

**तात्पर्य:** यहाँ ॐ कोई ध्वनि मात्र नहीं है, बल्कि संपूर्ण अनुभव का संकेत है। जो दिखाई देता है, जो स्मृति में है, जो कल्पना में है, और जो समय के पार है, वह सब उसी एक सत्ता में प्रकट है। अद्वैत यह नहीं कहता कि बहुत-सी वस्तुएँ मिलकर एक हो जाती हैं। अद्वैत कहता है कि अनेकता का अनुभव भी एक ही चैतन्य में है। जैसे लहर समुद्र से अलग नहीं, वैसे ही अनुभव सत्य से अलग नहीं। भेद अनुभव में है; सत्ता में नहीं।

❁ **Aadisatv का संकेत:** ध्वनि को मत पकड़ो। जिस मौन से ॐ उठता है, वही तुम हो।

इसी बोध को महावाक्य कहता है:

**प्रज्ञानं ब्रह्म ॥**

— स्रोत: ऐतरेय उपनिषद् 3.3

**अन्वय:** प्रज्ञानम् — शुद्ध चेतना, जानने का मूल प्रकाश; ब्रह्म — अनंत, निरपेक्ष सत्य।

**तात्पर्य:** ब्रह्म कोई वस्तु नहीं है जिसे जाना जा सके। ब्रह्म वही प्रज्ञान है जिसके कारण जानना संभव है। आंख दृश्य को देखती है, मन विचार को देखता है, पर प्रज्ञान आंख और मन दोनों को प्रकाशित करता है। यह चेतना व्यक्तिगत नहीं है; व्यक्ति उसी में एक उठती हुई लहर है। जब यह स्पष्ट होता है कि चेतना शरीर की संपत्ति नहीं, बल्कि शरीर चेतना में प्रकट घटना है, तब अद्वैत दार्शनिक धारणा नहीं रहता; वह स्वयंसिद्ध सत्य हो जाता है।

• **Aadisatv का संकेत:** तुम चेतन नहीं हो; तुम चेतना हो। अंतर सूक्ष्म है, पर इसी में जन्म-मृत्यु टूट जाती है।

सामान्यतः लोग अद्वैत को सुनते ही कहते हैं, "तो सब एक है।" यह वाक्य आधा सच और आधा भ्रम है। यदि "सब एक है" का अर्थ यह है कि पत्थर और मनुष्य व्यवहार में समान हैं, तो यह मूर्खता है। यदि इसका अर्थ यह है कि दुखी को देखकर करुणा की आवश्यकता नहीं, तो यह कठोर अज्ञान है। यदि इसका अर्थ यह है कि साधना, धर्म, उत्तरदायित्व सब निरर्थक हैं, तो यह अद्वैत नहीं, अहंकार का सूक्ष्मतम रूप है। अद्वैत व्यवहार को नकारता नहीं; वह व्यवहार को उसके सही स्थान पर रखता है।

शंकराचार्य परंपरा इस विवेक को स्पष्ट करती है:

**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। सोऽयं  
नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥**

— स्रोत: विवेकचूडामणि 20

**अन्वयः** ब्रह्म — परम सत्य; सत्यम् — नित्य और स्वतंत्र सत्य; जगत् — नाम-रूप का संसार; मिथ्या — न पूर्णतः असत्, न परम सत्य; एवम् रूपः विनिश्चयः — ऐसा दृढ़ निर्णय; सः अयम् — यही; नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः — नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक; समुदाहृतः — कहा गया है।

**तात्पर्य:** "जगन्मिथ्या" का अर्थ "जगत् नहीं है" नहीं है। मिथ्या का अर्थ है: जो दिखाई देता है, काम करता है, अनुभव में आता है, पर जिसकी सत्ता स्वयं में स्वतंत्र नहीं। जैसे स्वप्न जागने पर असत्य हो जाता है, पर स्वप्न के भीतर वह वास्तविक प्रतीत होता है। जगत् व्यवहार में है; परमार्थ में उसका आधार ब्रह्म है। नित्य और अनित्य का यही विवेक साधक को कल्पना से निकालकर प्रत्यक्षता में लाता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** संसार को झुठलाने से सत्य नहीं मिलता। संसार के आधार को पहचानो; झूठ अपने आप हल्का हो जाएगा।

अद्वैत नास्तिकता नहीं है, क्योंकि यह शून्यता में गिरना नहीं सिखाता। यह कहता है कि जो कुछ भी है, उसका सत्य आधार चैतन्य है। अद्वैत भागना नहीं है, क्योंकि भागने वाला मन है और मन जहाँ भी जाता है, अपना संसार साथ ले जाता है। अद्वैत उदासीनता नहीं है, क्योंकि उदासीनता में भी एक ठंडा अहंकार बचा रहता है। अद्वैत में करुणा स्वाभाविक होती है, क्योंकि दूसरा कोई पराया नहीं रह जाता; फिर भी व्यवहार में भेद का सम्मान रहता है। ज्ञानी भूखे को भोजन देता है, यह सोचकर नहीं कि "मैं दूसरे को दे रहा हूँ", बल्कि इसलिए कि चैतन्य में उठी पीड़ा उसी चैतन्य में उत्तर पाती है।

अद्वैत का केंद्र आत्मा है, पर आत्मा शब्द से भ्रम पैदा होता है। लोग आत्मा को शरीर के भीतर बैठी किसी सूक्ष्म सत्ता की तरह सोचते हैं। पर उपनिषद् जिस आत्मा की बात करते हैं, वह भीतर-बाहर से परे है।

“भीतर” और “बाहर” दोनों शरीर से जुड़े हुए शब्द हैं; आत्मा वह है जिसमें शरीर और दिशा दोनों दिखाई देते हैं।

## अयमात्मा ब्रह्म ॥

— स्रोत: माण्डूक्य उपनिषद् 2

**अन्वयः** अयम् — यह प्रत्यक्ष; आत्मा — स्वयं-प्रकाश आत्मस्वरूप; ब्रह्म — परम, अनंत सत्य।

**तात्पर्यः** यह महावाक्य दूर की खोज को तुरंत काट देता है। यह नहीं कहता कि किसी दिन आत्मा ब्रह्म बनेगी। यह कहता है: यह आत्मा ही ब्रह्म है। “यह” का अर्थ कोई वस्तु नहीं, बल्कि वह स्व-प्रकाश उपस्थिति है जिसके बिना कोई अनुभव संभव नहीं। साधना इसलिए नहीं कि आत्मा को बनाया जाए, बल्कि इसलिए कि जो आत्मा नहीं है, उसकी पकड़ ढीली हो। जब झूठी पहचान गिरती है, तब ब्रह्म कोई नई उपलब्धि नहीं, पुरानी भूल का अंत है।

• **Aadisatv का संकेतः** जिसे पाना है, वह तुम नहीं हो। जो पा रहा है, उसे देखो; वही द्वार है।

इसलिए अद्वैत का आरम्भ आस्था से नहीं, पहचान से होता है। आस्था कहती है: “शायद ऐसा है।” पहचान कहती है: “इससे पहले कि मैं कुछ मानूँ, मैं हूँ।” इस “मैं हूँ” को किसी नाम, रूप, इतिहास, जाति, उपलब्धि या दोष से मत जोड़ो। केवल “मैं हूँ” में टिककर देखो। वहाँ अभी

व्यक्तित्व नहीं है, केवल अस्तित्व है। इस अस्तित्व का प्रकाश ही प्रज्ञान है।

अद्वैत की सबसे बड़ी कठिनाई उसका बहुत सरल होना है। मन जटिल चीजों को महत्व देता है, क्योंकि जटिलता में उसका काम चलता रहता है। यदि सत्य दूर है, तो यात्रा चाहिए; यदि सत्य दुर्लभ है, तो उपलब्धि चाहिए; यदि सत्य किसी विशेष अनुभव में है, तो अनुभव को पकड़ने का उद्योग चाहिए। पर अद्वैत कहता है: तुम्हारे होने से अधिक निकट कुछ नहीं। इस निकटता को मन कम समझता है, क्योंकि मन निकटतम को वस्तु नहीं बना सकता। जैसे आंख सबको देखती है पर स्वयं को दृश्य नहीं बना पाती, वैसे ही आत्मा सबको प्रकाशित करती है पर स्वयं प्रकाशित वस्तु नहीं बनती।

यही कारण है कि “नेति, नेति” की परंपरा अद्वैत में इतनी महत्वपूर्ण है। यह शरीर नहीं, यह विचार नहीं, यह भावना नहीं, यह स्मृति नहीं, यह भूमिका नहीं। पर यह नकार निराशा नहीं है। यह धीरे-धीरे झूठी पहचान की परतें हटाता है, जैसे मूर्ति पर जमी धूल हटे तो मूर्ति बनाई नहीं जाती, केवल प्रकट होती है। साधक को सावधान रहना चाहिए कि नकार को जीवन-विरोध न बना दे। शरीर को नकारने का अर्थ शरीर से घृणा नहीं; मन को नकारने का अर्थ मन को कुचलना नहीं। अर्थ केवल इतना है कि इन सबमें “मैं” की अंतिम मुहर न लगाई जाए।

अद्वैत में ईश्वर भी नष्ट नहीं होता; उसकी समझ परिष्कृत होती है। आरम्भ में ईश्वर उपास्य है, साधक उपासक है। यह पवित्र द्वैत मन को शुद्ध करता

है। फिर धीरे-धीरे स्पष्ट होता है कि उपासना की अग्नि, उपासक का प्रेम और उपास्य का प्रकाश—तीनों एक ही चैतन्य में हैं। भक्ति का चरम अद्वैत में सूखता नहीं; वह और निर्मल हो जाता है, क्योंकि अब प्रेम किसी कमी से नहीं, पूर्णता से उठता है। ज्ञानी का नमस्कार किसी दूसरे को नहीं, उसी एक को है जो सभी रूपों में झलकता है।

इसलिए अद्वैत को जीवन में उतारने का पहला संकेत है: भाषा कम निर्णायक होती है, दृष्टि अधिक निर्णायक होती है। कोई व्यक्ति "सब ब्रह्म है" कहकर भी भय में जी सकता है; कोई बिना शब्द जाने भी शांत उपस्थिति में सत्य के निकट हो सकता है। शास्त्र भाषा देता है, पर बोध दृष्टि बदलता है। दृष्टि बदलते ही वही संसार, वही परिवार, वही शरीर, वही कर्म—सब हल्के हो जाते हैं, क्योंकि उनमें अब अंतिम सत्य का भार नहीं रखा जाता।

फिर प्रश्न उठता है: यदि यह इतना निकट है, तो हम इसे देखते क्यों नहीं? उत्तर सरल है: क्योंकि हम देखने वाली सत्ता को वस्तुओं में खोजते हैं। आंख स्वयं को आंख से नहीं देख सकती; पर उसके बिना कोई दृश्य नहीं। मन आत्मा को विचार बनाकर पकड़ना चाहता है; पर आत्मा वह है जिसमें विचार उठता है। यही भूल माया का द्वार है। अद्वैत समझ में आ सकता है, पर जब तक माया की प्रकृति न समझी जाए, समझ अपनी ही छाया से हारती रहती है।

यहीं से दूसरा अध्याय खुलता है: यदि ब्रह्म ही सत्य है, तो यह बहुविध जगत् क्या है? और वह शक्ति क्या है जो है भी, और नहीं भी?

## Chapter 2 — माया: वो जो है भी, और नहीं भी

माया शब्द को जितना बोला गया है, उतना समझा नहीं गया। कुछ लोग इसे सुनकर संसार से घृणा करने लगते हैं; कुछ इसे बहाना बनाकर अपने कर्मों की जिम्मेदारी से भागते हैं। कोई कहता है, “सब माया है,” और फिर उसी माया में सम्मान, धन, भय और संबंधों के लिए जलता रहता है। यह माया की समझ नहीं, माया का ही परिष्कृत रूप है। माया का अर्थ यह नहीं कि संसार बिल्कुल नहीं है। माया का अर्थ है: जो अपने आधार से अलग दिखाई देता है, पर अलग है नहीं।

शंकराचार्य की अद्वैत परंपरा में माया को समझने का प्रवेश-द्वार है अध्यास: जो जहाँ नहीं है, वहाँ वैसा दिखाई देना।

**स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।**

— स्रोतः ब्रह्मसूत्रभाष्य, अध्यासभाष्य

**अन्वयः** स्मृतिरूपः — स्मृति के समान रूप वाला; परत्र — किसी अन्य आधार पर; पूर्वदृष्ट-अवभासः — पहले देखी हुई वस्तु का प्रकट होना।

**तात्पर्यः** अंधेरे में रस्सी को सांप मानना अध्यास है। सांप का अनुभव झूठा नहीं लगता; शरीर में भय उठता है, पसीना आता है, हृदय तेज धड़कता है। पर जब प्रकाश आता है, सांप को हटाना नहीं पड़ता, क्योंकि वह था ही नहीं। रस्सी थी, सांप का आभास था। इसी प्रकार ब्रह्म है, और जगत्

नाम-रूप के रूप में प्रतीत है। माया ब्रह्म के ऊपर कोई दूसरी सत्ता नहीं चढ़ाती; वह पहचान में भ्रम उत्पन्न करती है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** प्रकाश आने पर अंधकार से लड़ना नहीं पड़ता। आत्मबोध में माया का प्रतिरोध नहीं, उसका विसर्जन होता है।

भगवद्गीता माया को ईश्वर की गुणमयी शक्ति कहती है:

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 7.14

**अन्वय:** दैवी — दिव्य; हि एषा — यह निश्चय ही; गुणमयी — सत्त्व, रजस, तमस से बनी; मम माया — मेरी माया; दुरत्यया — कठिनाई से पार होने वाली; माम् एव — केवल मुझे; ये प्रपद्यन्ते — जो शरण लेते हैं; ते — वे; एताम् मायाम् — इस माया को; तरन्ति — पार करते हैं।

**तात्पर्य:** माया कोई असुर शक्ति नहीं है जो सत्य से लड़ रही है। वह उसी सत्य की शक्ति है, जो गुणों के माध्यम से विविधता का अनुभव कराती है। सत्त्व स्पष्टता देता है, रजस गति देता है, तमस जड़ता देता है; इनके संयोजन से व्यक्तित्व, संसार और अनुभव का ताना-बाना बनता है। इसे मन की शक्ति से पार करना कठिन है, क्योंकि मन स्वयं गुणों से बना है। "मामेव प्रपद्यन्ते" का अर्थ है: उस आधार में लौटना जो गुणों से पहले है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** तुम माया में नहीं हो। माया तुम्हारे प्रकाश में उठी हुई लहर है।

व्यवहारिक सत्य और परमार्थिक सत्य का भेद यहीं उपयोगी होता है। व्यवहारिक सत्य में शरीर है, भूख है, संबंध हैं, नियम हैं, पीड़ा है, आनंद है। यदि आग में हाथ डालोगे तो जलोगे; यह व्यवहारिक सत्य है। पर परमार्थिक सत्य में आग, हाथ और जलना सब चैतन्य में प्रकट अनुभव हैं। ज्ञानी व्यवहार को नष्ट नहीं करता; वह व्यवहार को परमार्थ का स्थान नहीं देता।

जैसे सिनेमा में दृश्य चलते हैं। रोना, प्रेम, युद्ध, मृत्यु सब दिखते हैं। दर्शक जानता है कि पर्दा नहीं जलता, फिर भी दृश्य में रस आता है। अज्ञानी दृश्य में खोकर पर्दे को भूल जाता है। ज्ञानी दृश्य को रोकता नहीं; पर्दे को विस्मृत नहीं करता। यही माया का पार होना है: जगत् दिखाई देता है, पर वह स्वतंत्र सत्य नहीं मान लिया जाता।

योगवासिष्ठ इस संसार को चित्त की गहन गति से जोड़ता है:

**चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भवति  
गुह्यमेतत्सनातनम्॥**

— स्रोत: योगवासिष्ठ, वैराग्यप्रकरण, प्रचलित पाठ

**अन्वय:** चित्तम् एव — चित्त ही; हि संसारः — सचमुच संसार है; तत् — उसे; प्रयत्नेन — सावधानी और साधना से; शोधयेत् — शुद्ध करे; यत्

चित्तः — जैसा चित्त होता है; तत् मयः — वैसा ही अनुभव बनता है; एतत् — यह; सनातनम् गुह्यम् — सनातन रहस्य है।

**तात्पर्यः** संसार केवल बाहरी वस्तुओं का समूह नहीं, चित्त की व्याख्या भी है। एक ही घटना को कोई अपमान मानता है, कोई अवसर, कोई शिक्षा, कोई खेल। वस्तु से अधिक बंधन उस अर्थ में है जो चित्त देता है। पर अद्वैत यहाँ भी चित्त-सुधार पर नहीं रुकता। चित्त शुद्ध हो तो सत्य प्रतिबिंबित होता है; पर अंत में चित्त भी देखा हुआ है, द्रष्टा नहीं।

❁ **Aadisatv का संकेतः** मन को सुधारो, पर मन में मत रहो। स्वच्छ दर्पण भी दर्पण है, चेहरा नहीं।

माण्डूक्य परंपरा स्वप्न का उदाहरण देती है। स्वप्न में तुम दौड़ते हो, डरते हो, प्रेम करते हो, हारते हो, जीतते हो। स्वप्न के भीतर तुम्हें यह नहीं लगता कि यह स्वप्न है। जागने पर पता चलता है कि स्वप्न-द्रष्टा, स्वप्न-जगत् और स्वप्न-कथा सब मन में थे। अद्वैत कहता है: जाग्रत जगत् भी परमार्थ से ऐसा ही है। फर्क इतना है कि यह सामूहिक और नियमबद्ध है, इसलिए अधिक स्थिर लगता है।

**स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥**

— स्रोतः माण्डूक्यकारिका 2.31

**अन्वयः** स्वप्न-माये — स्वप्न और माया में; यथा दृष्टे — जैसे देखे जाते हैं; गन्धर्वनगरम् यथा — जैसे आकाश में कल्पित नगर; तथा — वैसे ही;

इदम् विश्वम् — यह विश्व; वेदान्तेषु विचक्षणैः — वेदान्त के विवेकी जनों द्वारा; दृष्टम् — देखा गया है।

**तात्पर्यः** यह श्लोक संसार का अपमान नहीं करता; वह उसकी स्थिति बताता है। स्वप्न दिखाई देता है, पर जागरण में उसका आधार बदल जाता है। गंधर्वनगर आकर्षक हो सकता है, पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार जगत् अनुभव में है, पर उसकी परमार्थिक सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं। माया का निवारण संसार को मिटाना नहीं, उसके स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना का मिटना है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** स्वप्न को बदलने में जीवन न गँवाओ। जागो, और देखो कि स्वप्न भी तुम्हारे ही प्रकाश से बना था।

माया का एक और सूक्ष्म रूप है आध्यात्मिक माया। साधक सोचता है, “मैं संसार से ऊपर हूँ,” और उसी विचार से नया संसार बन जाता है। पहले वह धन, संबंध और प्रतिष्ठा से पहचान बनाता था; अब शांति, ज्ञान और वैराग्य से पहचान बनाता है। पहले कहता था, “मेरी सफलता”; अब कहता है, “मेरा बोध।” यह और भी सूक्ष्म बंधन है, क्योंकि यह पवित्र भाषा में छिपा रहता है। अद्वैत की आग यहाँ भी वही करती है: जो भी देखा जा रहा है, वह तुम नहीं। आध्यात्मिक व्यक्ति की छवि भी देखी जा रही है। इसलिए वह भी माया के भीतर है।

व्यवहारिक और परमार्थिक सत्य का विवेक रोज़मर्रा के जीवन में ऐसे उतरता है: शरीर को रोग है, तो औषधि लो; यह व्यवहारिक सत्य है। पर

भीतर यह मत जोड़ो कि "मैं टूट गया।" संबंध में मतभेद है, तो संवाद करो; यह व्यवहारिक सत्य है। पर भीतर यह न मानो कि तुम्हारी पूर्णता किसी की स्वीकृति पर निर्भर है। धन का प्रबंध करो; पर अस्तित्व को धन से मत मापो। माया को जानना संसार से भागना नहीं, संसार को ठीक स्तर पर रखना है। जब स्तर बदलता है, जीवन हल्का हो जाता है।

माया में समय भी बड़ा ताना-बाना है। मन कहता है: "मैं कभी मुक्त होऊँगा।" यह "कभी" ही दूरी है। स्मृति कहती है: "मैं ऐसा था।" कल्पना कहती है: "मैं ऐसा बनूँगा।" पर आत्मा न अतीत है न भविष्य। जब तुम केवल अभी के "होने" में देखते हो, माया की समय-रेखा थोड़ी ढीली पड़ती है। तब पता चलता है कि जन्म की कथा, साधना की कथा, सफलता की कथा, असफलता की कथा—सब समय में हैं। तुम वह हो जिसमें समय का भी ज्ञान है।

माया को पार करने का अर्थ माया से शत्रुता नहीं। शत्रुता भी उसी को सत्य मानती है जिससे लड़ती है। माया का पार होना पहचान का बदलना है। जैसे नाटक में अभिनेता रोता है, पर भीतर जानता है कि वह भूमिका है; वैसे ही जीवन में भाव उठते हैं, कर्म होते हैं, निर्णय लिए जाते हैं, पर भीतर एक शांत जागरूकता रहती है कि यह सब आत्मा में प्रकट खेल है। यही खेल लीला कहलाता है जब अज्ञान घटता है; और यही खेल बंधन कहलाता है जब पहचान चिपक जाती है।

व्यवहार में माया कैसे दिखती है? जब कोई प्रशंसा करता है, भीतर सुख उठता है; जब वही व्यक्ति निंदा करता है, भीतर पीड़ा उठती है। व्यक्ति

वही है, शब्द वही आकाश में उठी ध्वनि है, पर "मैं" की कथा बदल गई। माया कथा को सत्य बना देती है। शरीर बूढ़ा होता है; माया कहती है, "मैं घट रहा हूँ।" धन आता है; माया कहती है, "मैं बढ़ गया।" विचार उठता है; माया कहती है, "मैंने सोचा।" यही मूल बंधन है: जो आता-जाता है, उसके साथ "मैं" जुड़ जाना।

माया को समझकर जीवन निष्क्रिय नहीं होता। उल्टा, जीवन अधिक सटीक होता है। जब तुम जानते हो कि भूमिका भूमिका है, तब उसे अधिक सुंदर निभा सकते हो। पिता पिता की तरह, व्यापारी व्यापारी की तरह, साधक साधक की तरह, राजा राजा की तरह; पर भीतर यह स्पष्ट कि कोई भूमिका तुम्हारा अंतिम परिचय नहीं। यह स्पष्टता उदासीनता नहीं देती; वह शुद्ध करुणा देती है, क्योंकि अब करुणा अहंकार की सजावट नहीं रहती।

अब प्रश्न और सूक्ष्म हो जाता है। यदि माया चित्त और नाम-रूप की उपस्थिति है, तो वह कौन है जो इसे जानता है? जो माया में उलझा हुआ प्रतीत होता है, क्या वह वास्तव में बंधा है? तीसरा अध्याय इसी वज्र-वाणी से आरम्भ होता है: आत्मा कभी बंधी ही नहीं।

## Chapter 3 — आत्मा: वो जो कभी बंधा नहीं

अष्टावक्र गीता अद्वैत की बिजली है। वहाँ सांत्वना कम है, सीधी चोट अधिक है। जनक ने पूछा, "मुक्ति कैसे मिले?" अष्टावक्र ने उत्तर में साधना की सीढ़ियाँ नहीं गिनाईं; उन्होंने पहचान की तलवार चला दी। जो तुम नहीं हो, उससे अलग हो जाओ; जो तुम हो, उसमें विश्राम करो। यही वाक्य सुनने में सरल है, पर उसमें संसार की पूरी संरचना हिल जाती है।

**यदि देहं पृथक्कृत्य चित्ति विश्राम्य तिष्ठसि। अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥**

— स्रोत: अष्टावक्र गीता 1.4

**अन्वयः** यदि — यदि; देहम् — शरीर को; पृथक् कृत्य — अलग जानकर; चित्ति — शुद्ध चेतना में; विश्राम्य — विश्राम करके; तिष्ठसि — ठहरते हो; अधुना एव — इसी क्षण; सुखी — सुखस्वरूप; शान्तः — शांत; बन्धमुक्तः — बंधन से मुक्त; भविष्यसि — हो जाओगे।

**तात्पर्यः** अष्टावक्र मुक्ति को भविष्य की घटना नहीं बनाते। वे कहते हैं कि शरीर को अस्वीकार मत करो, पर उसे "मैं" मत मानो। शरीर अनुभव में है; अनुभवकर्ता नहीं। चेतना में विश्राम का अर्थ विचारों को बलपूर्वक रोकना नहीं, बल्कि उनसे पहचान हटाना है। इसी क्षण यदि देहाभिमान ढीला हुआ, उसी क्षण शांति प्रकट है। मुक्ति समय में बनने वाली उपलब्धि नहीं, भ्रम हटने की तात्कालिक स्पष्टता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** देह को छोड़ना नहीं है; देह से "मैं" का गोंद हटाना है।

आत्मा कोई शरीर के भीतर बैठा छोटा जीव नहीं। यदि आत्मा भीतर है, तो बाहर कौन जानता है? यदि वह शरीर में बंद है, तो शरीर को जानने वाला कौन है? शरीर बदलता है: बाल्य, यौवन, वृद्धावस्था। मन बदलता है: इच्छा, भय, संकल्प, संदेह। स्मृति बदलती है। पर वह साधारण-सा अनुभव बना रहता है: "मैं हूँ।" यह "मैं हूँ" शरीर की अवस्था नहीं; सभी अवस्थाओं का प्रकाश है।

अष्टावक्र की वाणी इसे और तीखा करती है:

**न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्। चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥**

— स्रोत: अष्टावक्र गीता 15.4

**अन्वयः** न त्वम् देहः — तुम शरीर नहीं हो; न ते देहः — शरीर तुम्हारा भी नहीं; भोक्ता — भोगने वाले; कर्ता — करने वाले; न वा भवान् — तुम नहीं हो; चिद्रूपः असि — तुम चेतनस्वरूप हो; सदा साक्षी — सदा साक्षी; निरपेक्षः — किसी पर निर्भर नहीं; सुखम् चर — सहज सुख में विचरो।

**तात्पर्यः** "मैं करता हूँ" और "मैं भोगता हूँ" यही जीवभाव है। देह कर्म करती दिखती है, इंद्रियाँ अनुभव लाती हैं, मन प्रतिक्रिया बनाता है; पर साक्षी इन सबको प्रकाशित करता है। साक्षी कर्म के विरुद्ध नहीं, कर्म से असंग है। जैसे आकाश में धुआँ उठे तो आकाश धुँआला नहीं होता, वैसे

ही चेतना में अनुभव उठे तो चेतना प्रभावित नहीं होती। आत्मा की स्वतंत्रता किसी घटना पर निर्भर नहीं; वह उसके स्वभाव में है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** कर्ता को खोजो। विचार मिलेगा, शरीर मिलेगा, प्रवृत्ति मिलेगी; कर्ता नहीं मिलेगा। उसी अनुपस्थिति में आत्मा चमकती है।

केनोपनिषद् इस आत्मा को वस्तु बनाने की सारी चेष्टा रोक देता है:

**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥**

— स्रोत: केनोपनिषद् 1.5

**अन्वय:** यत् — जिसे; मनसा — मन से; न मनुते — सोचा नहीं जा सकता; येन — जिसके द्वारा; मनः मतम् — मन जाना जाता है; तत् एव — वही; ब्रह्म — ब्रह्म; त्वं विद्धि — तुम जानो; न इदम् — यह नहीं; यत् इदम् उपासते — जिसे लोग वस्तु की तरह पूजते हैं।

**तात्पर्य:** मन आत्मा को नहीं पकड़ सकता, क्योंकि मन स्वयं आत्मा के प्रकाश में जाना जाता है। जो विचार बन गया, वह आत्मा नहीं। जो अनुभव बन गया, वह भी आत्मा नहीं। ध्यान में जो प्रकाश, शांति या आनंद आता है, वह पवित्र हो सकता है, पर यदि वह आया है तो जाएगा। ब्रह्म वह नहीं जो आता-जाता है; वह है जिसके कारण आने-जाने का ज्ञान है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** आत्मा को अनुभव मत बनाओ। अनुभव को जानने वाली निस्पंदता में लौटो।

खोजी की सबसे बड़ी भूल है कि वह स्वयं को खोजी मानता है। खोजी मानते ही आत्मा लक्ष्य बन जाती है और साधक दूरी में चल पड़ता है। दूरी मन की रचना है। क्या तुम अपने होने से दूर हो सकते हो? तुम शरीर से दूर महसूस कर सकते हो, मन से दूर हो सकते हो, स्मृति खो सकते हो, नींद में दुनिया भूल सकते हो; पर अपने होने के अभाव का अनुभव नहीं कर सकते। गहरी नींद से उठकर कहते हो, "मैं अच्छा सोया।" कौन था जिसने अज्ञान का भी बाद में संकेत दिया? कोई सूक्ष्म निरंतरता है, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के पार है।

भगवद्गीता आत्मा की अछेद्यता को ऐसे कहती है:

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 2.20

**अन्वयः** न जायते — यह जन्म नहीं लेता; न म्रियते — मरता नहीं; कदाचित् — कभी भी; अयम् — यह आत्मा; अजः — अजन्मा; नित्यः — नित्य; शाश्वतः — शाश्वत; पुराणः — प्राचीन होते हुए भी नवीन; शरीरे हन्यमाने — शरीर के नष्ट होने पर; न हन्यते — नष्ट नहीं होता।

**तात्पर्यः** गीता आत्मा को जीवन की निरंतरता के रूप में नहीं, जन्म-मरण से परे सत्ता के रूप में देखती है। जो जन्म लेता है वह शरीर है; जो

बदलता है वह मन है; जो स्मृति से बनता है वह व्यक्तित्व है। आत्मा इन सबका साक्षी है, इसलिए इनसे बंधी नहीं हो सकती। मृत्यु आत्मा की घटना नहीं, शरीर की घटना है। यह समझ यदि विचार में रहे तो सांत्वना है; यदि बोध में उतरे तो निर्भयता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** मृत्यु से मत पूछो कि तुम कौन हो। उस "मैं" से पूछो जो मृत्यु की कल्पना को भी देख रहा है।

आत्मा की खोज में एक सूक्ष्म भूल बार-बार होती है: साधक किसी विशेष भीतरपन को आत्मा समझ लेता है। आंख बंद हुई, शांति आई, शरीर हल्का लगा, विचार धीमे हुए—और मन कहता है, "यही आत्मा है।" पर जो अनुभव किया गया, वह आत्मा नहीं हो सकता। अनुभव का मूल्य है; वह मन को स्थिर कर सकता है। पर आत्मा अनुभव की वस्तु नहीं, अनुभव की संभावना है। यदि शांति आती है और जाती है, तो तुम वह हो जो दोनों को जानता है। यदि आनंद उठता है और फिर साधारणता लौट आती है, तो तुम वह हो जिसमें दोनों की सूचना है।

इसलिए आत्म-विचार कोई मानसिक विश्लेषण नहीं। "मैं कौन हूँ?" का अर्थ यह नहीं कि मन कोई परिभाषा खोजे। इसका अर्थ है: जो "मैं" कहता है, उसे प्रत्यक्ष देखो। क्या वह शरीर है? शरीर देखा जा रहा है। क्या वह मन है? मन बदल रहा है और देखा जा रहा है। क्या वह भावना है? भावना उठती है और मिटती है। क्या वह साक्षी है? यदि "साक्षी" भी एक विचार है, तो वह भी देखा जा रहा है। फिर कुछ क्षण बिना उत्तर के रहो। यह उत्तरहीनता खाली नहीं; इसमें ही आत्मा की सुगंध है।

बंधन की पूरी शक्ति पहचान में है। लोहे की जंजीर कम बांधती है, "मैं बंधा हूँ" का विश्वास अधिक बांधता है। कोई व्यक्ति जेल में भी भीतर स्वतंत्र हो सकता है; कोई राजमहल में भी भयभीत कैदी हो सकता है। अद्वैत बाहरी परिस्थिति को छोटा नहीं कहता, पर यह बताता है कि अंतिम बंधन परिस्थिति नहीं, गलत आत्मबोध है। जब आत्मा को देह-मन से अलग जान लिया जाता है, तब परिस्थिति अपना स्थान रखती है, पर स्वत्व नहीं छीनती।

यह पहचान कृत्रिम वैराग्य से नहीं आती। देह को तिरस्कृत करने से देहाभिमान गहरा भी हो सकता है, क्योंकि तिरस्कार भी एक संबंध है। मन को दबाने से मन सूक्ष्म रूप में लौटता है। सही मार्ग है साक्षीभाव की स्पष्टता: देह है, पर मैं देह नहीं; मन है, पर मैं मन नहीं; जीवन चलता है, पर मैं जीवन-कथा नहीं। इस सरल विवेक को बार-बार जाग्रत करना ही आत्मा की ओर लौटना है।

आत्मा पर विश्वास मत करो; आत्मा को प्रत्यक्ष असंदिग्धता में पहचानो। विश्वास टूट सकता है, अनुभव बदल सकता है, तर्क उलट सकता है। पर यह तथ्य कि "मैं हूँ", अभी किसी प्रमाण की प्रतीक्षा नहीं करता। इसी निर्विवादता को धीरे-धीरे शुद्ध करो। पहले "मैं शरीर हूँ" छूटेगा, फिर "मैं मन हूँ" छूटेगा, फिर "मैं साधक हूँ" भी हल्का होगा। अंत में "मैं हूँ" भी शब्द रूप में शांत होकर केवल स्वप्रकाशता रह जाएगी, नित्य और अचल।

आत्मा को पाने की चेष्टा क्यों विफल होती है? क्योंकि पाने वाला स्वयं आत्मा के प्रकाश में बना हुआ अहं-विचार है। वह अपने स्रोत को वस्तु बनाना चाहता है। यह वैसा ही है जैसे तरंग समुद्र को पकड़ना चाहे। जब तरंग शांत होती है, समुद्र अलग से प्राप्त नहीं होता; वह स्पष्ट हो जाता है कि तरंग कभी समुद्र से अलग थी ही नहीं।

यहाँ साधना का अर्थ मिटता नहीं, पर उसका अहंकार मिटता है। ध्यान करो, जप करो, शास्त्र पढ़ो, सेवा करो; पर यह मत मानो कि इनसे आत्मा बनेगी। वे केवल मन को इतना पारदर्शी कर सकते हैं कि आत्मा की स्वयंसिद्धता छिपे नहीं। आत्मा कोई उपलब्धि नहीं; उपलब्धियों के आने-जाने का आधार है।

जब यह समझ हृदय में उतरती है, गुरु और शास्त्र का अर्थ भी बदल जाता है। वे कुछ नया देने नहीं आते। वे केवल उस असंभव भूल को दिखाते हैं जिसमें पूर्ण स्वयं को अपूर्ण मान बैठा है।

## Chapter 4 — गुरु और शास्त्र: दो किनारे, एक नदी

अद्वैत में गुरु व्यक्ति नहीं, दर्पण है। व्यक्ति रूप में गुरु दिखता है, बोलता है, चलता है, कभी डाँटता है, कभी मौन रहता है; पर गुरुता शरीर में नहीं। गुरु वह उपस्थिति है जिसमें तुम्हारा झूठा केंद्र टिक नहीं पाता। वह तुम्हें कुछ देता नहीं, क्योंकि जो दिया जा सके वह छिन भी सकता है। वह केवल यह दिखाता है कि जिसे तुम खोज रहे हो, उससे तुम एक क्षण भी अलग नहीं हुए।

फिर भी शास्त्र कहते हैं कि गुरु आवश्यक है। क्यों? क्योंकि मन अपनी भूल को स्वयं सत्य मानता है। जिसे अज्ञान है, उसे अज्ञान का भी पूरा ज्ञान नहीं होता। इसलिए श्रुति, गुरु और साधक का निर्मल विवेक मिलकर भीतर वह आग जगाते हैं जिसमें मिथ्या पहचान जलती है।

**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥**

— स्रोत: मुण्डक उपनिषद् 1.2.12

**अन्वयः** तत्-विज्ञानार्थम् — उस परम सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए; सः — साधक; गुरुम् एव — गुरु के पास ही; अभिगच्छेत् — जाए; समित्पाणिः — समर्पण और यज्ञभाव के साथ; श्रोत्रियम् — शास्त्रज्ञ; ब्रह्मनिष्ठम् — ब्रह्म में स्थित।

**तात्पर्यः** गुरु के दो लक्षण बताए गए: श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ। केवल शास्त्र जानना पर्याप्त नहीं; केवल अनुभव का दावा भी पर्याप्त नहीं। श्रोत्रियता दिशा देती है, ब्रह्मनिष्ठा जीवित प्रमाण देती है। समिधा लेकर जाना बाहरी कर्म से अधिक भीतर की तैयारी का प्रतीक है: “मैं अपने अहंकार को अग्नि में रखने आया हूँ।” जहाँ यह विनय नहीं, वहाँ गुरु भी केवल व्यक्तित्व-पूजा बन जाता है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** गुरु के पास उत्तर लेने मत जाओ। वहाँ अपने प्रश्नकर्ता को रख दो।

विवेकचूडामणि मनुष्य-जन्म, मुक्ति की चाह और महापुरुष का संग तीनों को दुर्लभ कहता है:

**दुर्लभं      त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।      मनुष्यत्वं      मुमुक्षुत्वं**  
**महापुरुषसंश्रयः ॥**

— स्रोतः विवेकचूडामणि 3

**अन्वयः** दुर्लभम् — दुर्लभ है; त्रयम् एव एतत् — ये तीन ही; देव-अनुग्रह-हेतुकम् — ईश्वर-कृपा से प्राप्त; मनुष्यत्वम् — मनुष्य जन्म; मुमुक्षुत्वम् — मुक्ति की तीव्र चाह; महापुरुष-संश्रयः — ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष का आश्रय।

**तात्पर्यः** मनुष्य जन्म इसलिए मूल्यवान है कि यहाँ आत्म-विचार संभव है। मुमुक्षुत्व इसलिए दुर्लभ है कि अधिकतर लोग दुख से छुटकारा चाहते हैं, सत्य नहीं। महापुरुष का संग इसलिए दुर्लभ है कि वहाँ तुम्हारी कथा को

पोषण नहीं, चुनौती मिलती है। गुरु की निकटता आराम नहीं, शुद्धि है। वह प्रेम है, पर ऐसा प्रेम जो झूठ को जीवित नहीं रहने देता।

❁ **Aadisatv का संकेत:** जो तुम्हें तुम्हारी कहानी में श्रेष्ठ बनाता है, वह मित्र हो सकता है। जो कहानी को ही भेद दे, वही गुरु है।

शास्त्र का स्थान भी ऐसा ही है। शास्त्र सत्य नहीं हैं; सत्य की ध्वनि हैं। चंद्रमा की ओर उठी उंगली चंद्रमा नहीं होती, पर अंधेरे में वह अमूल्य होती है। जो उंगली को ही चूमने लगे, वह चंद्रमा खो देता है। जो उंगली को तोड़ दे, वह दिशा खो देता है। परिपक्व साधक शास्त्र का सम्मान करता है, पर शब्द में कैद नहीं होता।

भगवद्गीता गुरु के समीप जाने की विधि बताती है:

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 4.34

**अन्वय:** तत् विद्धि — उस ज्ञान को जानो; प्रणिपातेन — विनम्र समर्पण से; परिप्रश्नेन — यथार्थ प्रश्न से; सेवया — सेवा से; ज्ञानिनः — ज्ञानीजन; तत्त्वदर्शिनः — सत्य को देखने वाले; ते — तुम्हें; ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति — ज्ञान का उपदेश करेंगे।

**तात्पर्य:** प्रणिपात अंधविश्वास नहीं; अहंकार की कठोरता का झुकना है। परिप्रश्न वाद-विवाद नहीं; सत्य के लिए जलता हुआ प्रश्न है। सेवा गुरु को

प्रसन्न करने की युक्ति नहीं; अपने केंद्र को नरम करने की साधना है। तत्त्वदर्शी गुरु शब्द देता है, पर शब्द से अधिक अपनी स्थिति देता है। उसके निकट साधक देखता है कि जीवन बिना खोजी के भी पूर्ण हो सकता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** प्रश्न करो, पर प्रश्न को हथियार मत बनाओ। उसे दीपक बनाओ।

गुरु की अंतिम करुणा क्या है? अपने को अनावश्यक बना देना। जब तक साधक स्वयं को देह-मन मानता है, गुरु सामने खड़ा रहता है। जब पहचान भीतर स्थिर होती है, गुरु बाहर से भीतर लौट जाता है। तब दिखाई देता है कि गुरु की वाणी, शास्त्र का मंत्र, जीवन की चोट, मौन का स्पर्श—सब एक ही नदी के प्रवाह थे।

कठोपनिषद् की पुकार इसी जागरण की है:

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥**

— स्रोत: कठोपनिषद् 1.3.14

**अन्वय:** उत्तिष्ठत — उठो; जाग्रत — जागो; वरान् प्राप्य — श्रेष्ठ ज्ञानीजनों को प्राप्त कर; निबोधत — जानो; क्षुरस्य धारा — उस्तरे की धार; निशिता — तीक्ष्ण; दुरत्यया — कठिन पार होने वाली; तत् पथः — वह मार्ग; दुर्गम् — कठिन; कवयः वदन्ति — ऋषि कहते हैं।

**तात्पर्य:** अद्वैत सरल है, पर मन के लिए कठिन। सरल इसलिए कि सत्य अभी है। कठिन इसलिए कि मन जटिलता में ही जीवित रहता है। उस्तरे की धार का अर्थ भय पैदा करना नहीं, सजगता जगाना है। आधे-अधूरे निष्कर्ष, उधार की भाषा और अनुभवों की सजावट इस पथ पर टिकती नहीं। यहाँ सत्य चाहिए, और सत्य साधक को पूरी तरह माँगता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** जागरण कोई सजावट नहीं। यह तुम्हारे असत्य की पूरी कीमत लेता है।

गुरु-भक्ति का अर्थ बुद्धि को बंद कर देना नहीं। अंधविश्वास गुरु के नाम पर मन की सुरक्षा है। सच्ची भक्ति में हृदय खुलता है और विवेक तेज होता है। गुरु यदि शास्त्र-विरुद्ध अहंकार को पोषित करे, निर्भरता बढ़ाए, भय से साधक को बांधे, तो सावधान होना चाहिए। ब्रह्मनिष्ठ गुरु साधक को अपने व्यक्तित्व में कैद नहीं करता। वह कहता है: मुझे मत पकड़ो, उस सत्य को पहचानो जिसकी ओर मैं संकेत कर रहा हूँ। जहाँ गुरु की निकटता से स्वतंत्रता बढ़ती है, वहाँ गुरुकृपा है। जहाँ निर्भरता और भय बढ़ते हैं, वहाँ अभी मनुष्य की छाया अधिक है।

शास्त्र भी इसी प्रकार जीवित होते हैं। यदि श्लोक केवल स्मरण में हैं, तो वे सुंदर ध्वनियाँ हैं। यदि वे जीवन की चोट के समय भीतर उठते हैं और पहचान को मोड़ देते हैं, तब वे गुरु-वाणी बन जाते हैं। अपमान हुआ और गीता की समता स्मरण आई; मृत्यु का भय आया और “न जायते म्रियते” भीतर जागा; ध्यान में शून्यता आई और केनोपनिषद् ने कहा, “इसे वस्तु मत बनाओ।” तब शास्त्र पुस्तक से उतरकर चेतना में काम करते हैं।

कभी-कभी साधक कहता है: "मुझे जीवित गुरु नहीं मिला।" यदि यह वाक्य ईमानदार पीड़ा से उठता है, तो उसे प्रार्थना बनाओ। यदि यह बहाना है, तो उसे देखो। जीवन में गुरु अनेक रूपों में आता है: एक वाक्य, एक मौन, एक असफलता, एक रोग, एक प्रेम, एक विछेद। पर इन सबको गुरु तभी बनाते हो जब भीतर सत्य की चाह सजावट से अधिक प्रबल हो। महापुरुष का संग दुर्लभ है; पर जब प्यास सच्ची हो, अस्तित्व दिशा देने लगता है।

शिष्यत्व का अर्थ छोटा होना नहीं; ग्रहणशील होना है। अहंकार ज्ञान को भी संग्रह बना लेता है। वह कहता है, "मुझे पता है," और इसी वाक्य से द्वार बंद कर लेता है। शिष्य कहता है, "जो सत्य है, वह मेरे निष्कर्ष से बड़ा है।" इस विनय में बुद्धि मंद नहीं होती, बल्कि निर्मल होती है। गुरु बुद्धि को तोड़ता नहीं; उसे उसके उचित स्थान पर बैठाता है। बुद्धि नाव है, किनारा नहीं।

जब शास्त्र पढ़ो, तो तीन स्तरों पर पढ़ो। पहले अर्थ समझो, क्योंकि अस्पष्ट भाषा भ्रम देती है। फिर अपने जीवन में उसका प्रतिबिंब देखो, क्योंकि बिना जीवन-स्पर्श के शास्त्र स्मृति बन जाता है। अंत में उस मौन में ठहरो जहाँ वाक्य संकेत कर रहा है। यदि "अयमात्मा ब्रह्म" पढ़कर तुम केवल व्याकरण जानते हो, तो पहला स्तर है। यदि जीवन में "मैं शरीर हूँ" की पकड़ ढीली होती है, तो दूसरा स्तर है। यदि एक क्षण को जानने वाला स्वयं ही शांत हो जाए, तो तीसरे स्तर का स्पर्श है।

गुरु इसी तीसरे स्तर को जीवित करता है। वह शब्द को मौन में उतार देता है। कभी वह बहुत बोलता है, क्योंकि साधक के भ्रम अनेक हैं। कभी वह बिल्कुल नहीं बोलता, क्योंकि साधक की तैयारी शब्दों से आगे पहुँच चुकी है। दोनों में करुणा एक ही है। गुरु की डाँट भी यदि अहंकार को ढीला करे तो कृपा है; गुरु का मौन भी यदि आत्मा में स्थिर करे तो उपदेश है। इसलिए बाहरी शैली से गुरु को मत नापो। देखो कि उसके निकट तुम्हारे भीतर सत्य की प्यास प्रज्वलित होती है या व्यक्तित्व की पूजा।

शास्त्र और गुरु के बिना भी सत्य वही है, पर साधक के लिए मार्ग धुंधला रहता है। इसलिए विनयपूर्वक सहारा लो, पर सहारे को अंतिम घर मत बना लो। नाव से पार जाओ; नाव को सिर पर उठाकर मत घूमो। अंत में गुरु, शास्त्र और साधक—तीनों उसी आत्मा में एक रस हो जाते हैं।

गुरु और शास्त्र दो किनारे हैं। उनके बीच साधना की नदी बहती है। किनारे नदी को दिशा देते हैं, पर नदी का लक्ष्य किनारे पकड़ना नहीं, समुद्र में गिरना है। जब बोध स्थिर होता है, शास्त्र भीतर से पढ़ा जाता है। तब श्लोक स्मृति से नहीं, मौन से उठते हैं। तब गुरु बाहर बैठा हो या शरीर छोड़ चुका हो, उसकी उपस्थिति उसी आत्मा में उपलब्ध है।

इस बोध का परिपाक जीवन से भागने में नहीं, जीवन के मध्य मुक्त होने में है। अद्वैत का फूल मृत्यु के बाद किसी लोक में नहीं खिलता। वह यहीं, सांस लेते हुए, चलते हुए, बोलते हुए खिलता है। इसी को कहते हैं जीवन्मुक्ति।

## Chapter 5 — जीवन्मुक्ति: मुक्ति जीते जी

जीवन्मुक्ति अद्वैत की अद्भुत घोषणा है। मुक्ति मृत्यु के बाद नहीं, किसी स्वर्ग में नहीं, किसी भविष्य के शुभ क्षण में नहीं; मुक्ति यहाँ, इसी देह में संभव है। यह सुनते ही मन मुक्ति की कोई असाधारण छवि बना लेता है: शायद शरीर से प्रकाश निकलेगा, शायद व्यक्ति कभी क्रोध नहीं करेगा, शायद वह संसार की हर बात पहले से जानता होगा। ये सब कल्पनाएँ हैं। जीवन्मुक्त बाहर से बहुत साधारण हो सकता है। अंतर केवल इतना है: भीतर खोजी अनुपस्थित है।

गीता कहती है:

**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म  
तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 5.19

**अन्वयः** इह एव — यहीं इसी जीवन में; तैः — उनके द्वारा; सर्गः जितः — सृष्टि-जन्य बंधन जीत लिया गया; येषाम् — जिनका; मनः — मन; साम्ये स्थितम् — समत्व में स्थित है; निर्दोषम् — दोषरहित; समम् — सम; ब्रह्म — ब्रह्म; तस्मात् — इसलिए; ते — वे; ब्रह्मणि स्थिताः — ब्रह्म में स्थित हैं।

**तात्पर्यः** मुक्ति का प्रमाण बाहरी चमत्कार नहीं, समत्व है। समत्व का अर्थ भावहीनता नहीं; सुख-दुख, लाभ-हानि, सम्मान-अपमान के मध्य आत्मा की असंगता में स्थित रहना। जीवन्मुक्त का मन व्यवहार करता है, पर

केंद्र नहीं बनता। ब्रह्म सम है, इसलिए उसमें स्थित व्यक्ति जीवन को व्यक्तिगत लाभ-हानि के तराजू से नहीं तौलता। "इहैव" शब्द निर्णायक है: सत्य अभी उपलब्ध है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** मुक्ति जीवन से बाहर नहीं ले जाती। वह जीवन के भीतर "मेरा" को बाहर कर देती है।

अष्टावक्र जीवन्मुक्त को किसी साधु-छवि में कैद नहीं करते। उनके लिए मुक्त वह है जिसने मन के केंद्र को झूठा जान लिया:

**निःसङ्गो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः। अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि॥**

— स्रोत: अष्टावक्र गीता 1.15

**अन्वयः** निःसङ्गः — असंग; निष्क्रियः — कर्म से परे; असि त्वम् — तुम हो; स्वप्रकाशः — स्वयं प्रकाशित; निरञ्जनः — मलरहित; अयम् एव — यही; हि ते बन्धः — तुम्हारा बंधन है; समाधिम् अनुतिष्ठसि — कि तुम समाधि को साध्य मानकर करते हो।

**तात्पर्यः** अष्टावक्र की वाणी साधना के अहंकार को भी काटती है। यदि तुम स्वभाव से असंग और स्वप्रकाश हो, तो "मैं समाधि प्राप्त करूँगा" भी सूक्ष्म बंधन हो सकता है। यह श्लोक ध्यान का विरोध नहीं करता; वह ध्यानकर्ता की कल्पना को देखता है। जीवन्मुक्त के लिए समाधि कोई अवस्था नहीं, सहज आत्मस्थिति है। आंख खुली हो या बंद, वह अपने स्वरूप से बाहर नहीं जाता।

• **Aadisatv का संकेत:** जो अवस्था आती है, वह जाएगी। तुम अवस्था नहीं; अवस्थाओं की उपस्थिति हो।

तो जीवन्मुक्त करता क्या है? वही जो जीवन उसके माध्यम से कराता है। कभी वह राजा जनक की तरह राज्य चलाता है, कभी शुकदेव की तरह वन में विचरता है, कभी गृहस्थ रहता है, कभी संन्यासी। बाहरी रूप निर्णायक नहीं। निर्णायक है: क्या भीतर कर्तापन है? यदि कर्म हो रहा है और "मैं ही कर्ता हूँ" का गर्व या भय नहीं, तो जीवन स्वच्छ धारा बन जाता है।

गीता इस रहस्य को कर्म में देखती है:

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 4.18

**अन्वयः** कर्मणि — कर्म में; अकर्म — अकर्तापन; यः पश्येत् — जो देखे; अकर्मणि — बाहरी अकर्म में; कर्म — सूक्ष्म कर्म; यः — जो; सः — वही; मनुष्येषु बुद्धिमान् — मनुष्यों में बुद्धिमान; युक्तः — योगयुक्त; कृत्स्न-कर्म-कृत् — सभी कर्मों का सार जानने वाला।

**तात्पर्यः** जीवन्मुक्त के शरीर-मन से कर्म हो सकते हैं, पर आत्मा अकर्ता है। अज्ञानी बाहर शांत बैठा हो, फिर भी भीतर इच्छाओं, भय और कल्पनाओं का कर्म चल रहा है। ज्ञानी बाहर अत्यंत सक्रिय हो, फिर भी

भीतर अकर्ता है। कर्म में अकर्म देखना यही है: क्रिया प्रकृति में है, साक्षी असंग है। यही जीते जी स्वतंत्रता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** हाथ काम करें, मन योजना बनाए, वाणी बोले; पर भीतर कोई मालिक न बैठे।

योगवासिष्ठ में जनक का उदाहरण बार-बार आता है। जनक राजमहल में रहते हुए मुक्त हैं। वे युद्ध, न्याय, कर, परिवार, सभा—सबमें भाग लेते हैं; पर भीतर ऐसा शून्य है जिसमें कोई जनक बँधा नहीं। यह शून्य उदासी नहीं, पूर्णता है। संसार उन्हें छूता है पर पकड़ता नहीं।

**अन्तःशीतलतां यातो यो न हृष्यति न द्विषन्। कुर्वन्नपि जगत्कार्यं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥**

— स्रोत: योगवासिष्ठ, जीवन्मुक्तिवर्णन, प्रचलित पाठ

**अन्वय:** अन्तः-शीतलताम् यातः — भीतर शीतलता को प्राप्त; यः — जो; न हृष्यति — अत्यधिक हर्षित नहीं होता; न द्विषन् — द्वेष नहीं करता; जगत्-कार्यम् कुर्वन् अपि — जगत् के कार्य करते हुए भी; सः — वही; जीवन्मुक्तः उच्यते — जीवन्मुक्त कहा जाता है।

**तात्पर्य:** जीवन्मुक्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं। भीतर की शीतलता के साथ जगत् का कार्य चलता है। हर्ष और द्वेष की अनुपस्थिति जीवन की नीरसता नहीं, केंद्र की स्वतंत्रता है। जीवन्मुक्त प्रतिक्रिया से नहीं, स्पष्टता से जीता है। वह संसार को सुधारने की बेचैनी से नहीं, सत्य की सहज करुणा से कर्म करता है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** मुक्त व्यक्ति जीवन से कम नहीं जुड़ता; वह बिना चिपके जुड़ता है।

अवधूत गीता इस स्वतंत्रता को परम स्वर में कहती है:

**न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः। अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्॥**

— स्रोत: अवधूत गीता 1.11, प्रचलित पाठ

**अन्वय:** न मे बन्धः — मेरा कोई बंधन नहीं; न मोक्षः मे — मेरी कोई मुक्ति नहीं; भीतस्य — भयभीत मनुष्य के लिए; एताः विभीषिकाः — ये डरावनी कल्पनाएँ हैं; अहो — आश्चर्य; मयि स्थितम् विश्वम् — विश्व मुझमें स्थित प्रतीत है; वस्तुतः — वास्तव में; न मयि स्थितम् — मुझमें भी स्थित नहीं।

**तात्पर्य:** परम दृष्टि में बंधन और मुक्ति दोनों मन की अवधारणाएँ हैं। जब तक जीवभाव है, मुक्ति अर्थपूर्ण है। आत्मबोध में स्पष्ट होता है कि आत्मा कभी बंधी नहीं थी, इसलिए उसकी मुक्ति भी घटना नहीं। “विश्व मुझमें है” भी अंतिम कथन नहीं; क्योंकि “मुझमें” कहने से भी कोई स्थान सूचित होता है। अवधूत की भाषा सभी सीमाओं को तोड़ती है।

❁ **Aadisatv का संकेत:** पहले मुक्ति चाहो। फिर देखो कि चाहने वाला ही बंधन था।

जीवन्मुक्त के जीवन में प्रारब्ध चलता है। शरीर को भूख लगती है, रोग आता है, थकान आती है, वृद्धावस्था आती है। मन में संस्कारों की हल्की तरंगें भी उठ सकती हैं। पर अंतर यह है कि वे केंद्र को परिभाषित नहीं करतीं। बादल आकाश में आते हैं; आकाश उनका इतिहास नहीं बनाता। अज्ञानी हर तरंग से अपना परिचय बना लेता है। ज्ञानी तरंग को देखता है, आवश्यक हो तो व्यवहार करता है, और भीतर वही निर्मल आकाश रहता है।

इसलिए जीवन्मुक्ति को अभिनय मत बनाओ। यदि भीतर पीड़ा उठती है, तो उसे "मैं अद्वैती हूँ" कहकर दबाओ मत। दबाई हुई पीड़ा ज्ञान नहीं, मनोविकार बनती है। पीड़ा को देखो, उसकी कथा को पहचानो, शरीर में उसका कंपन महसूस करो, और फिर पूछो: इसे जानने वाला क्या पीड़ित है? यह प्रश्न भागना नहीं, गहराई में उतरना है। अद्वैत भावनाओं का इनकार नहीं; भावनाओं की स्वतंत्र सत्ता का विवेक है।

जीवन्मुक्त का प्रेम भी अलग होता है। वह तुम्हें अपनी जरूरत से प्रेम नहीं करता। वह तुम्हें नियंत्रित करके सुरक्षित नहीं होना चाहता। उसकी करुणा में पकड़ नहीं होती। वह निकट हो सकता है, पर चिपकता नहीं; दूर हो सकता है, पर अनुपस्थित नहीं। उसकी साधारणता सबसे बड़ा चमत्कार है। वह बाजार में चल सकता है, चाय पी सकता है, हंस सकता है, मौन रह सकता है। मन चमत्कार ढूँढ़ता है; सत्य सहजता में छिपा हुआ नहीं, प्रकट है।

जीवन्मुक्ति में नैतिकता बाहर से थोपी हुई व्यवस्था नहीं रहती। जब दूसरा पराया नहीं, तब हिंसा का आधार सूखता है। जब भीतर अभाव नहीं, तब लोभ की तीव्रता घटती है। जब कर्तापन ढीला है, तब कर्म अधिक स्पष्ट और कम स्वार्थी होता है। इसलिए अद्वैत नैतिकता को मिटाता नहीं; उसे जड़ नियम से जीवित करुणा में बदल देता है। मुक्त का आचरण कभी बाहरी नियम से परे दिख सकता है, पर भीतर उसमें निजी लाभ की गंध नहीं होती।

साधक के लिए यह समझ व्यावहारिक है। वह अपने भीतर देख सकता है: क्या मेरा वैराग्य करुणा बढ़ा रहा है या कठोरता? क्या मेरा ज्ञान सरलता ला रहा है या श्रेष्ठता? क्या मेरी शांति जीवन से संपर्क कम कर रही है या उसे स्पष्ट कर रही है? इन प्रश्नों से जीवन्मुक्ति की दिशा खुलती है। जो सचमुच मुक्त है, वह अपने मुक्त होने का प्रचार नहीं करता; उसकी उपस्थिति में बंधन की भाषा स्वयं ढीली पड़ती है।

जीवन्मुक्ति का अंतिम स्वाद सहजता है। कोई भीतर लगातार यह नहीं कहता कि "मैं असंग हूँ।" असंगता यदि दोहरानी पड़े, तो अभी वह विचार है। जब वह स्वभाव हो जाती है, तो जीवन बिना घोषणा के बहता है। वहीं सच्ची विनम्रता है, वहीं सच्ची स्वतंत्रता, शांत, सहज और निर्मल।

जीवन्मुक्त की पहचान करने की जल्दी मत करो। मन दूसरों को परखकर स्वयं को बचाता है। अधिक उपयोगी प्रश्न यह है: मेरे भीतर कौन अभी भी परिणाम से बंधा है? कौन मान्यता चाहता है? कौन आध्यात्मिक बनने की छवि सँभाल रहा है? जहाँ यह देखा जाता है, वहीं जीवन्मुक्ति की

सुगंध आती है। मुक्त होना विशेष बनना नहीं; विशेष बनने की भूख से मुक्त होना है।

अब उन वचनों की ओर चलें जिन्हें वेदांत ने महावाक्य कहा। वे चार शब्द नहीं, चार दरवाजे हैं। उनमें प्रवेश किया जाए तो वही सत्य सामने है जो अब तक शास्त्र, गुरु, आत्मा और मुक्ति के रूप में संकेतित हुआ।

## Chapter 6 — महावाक्य: चार शब्द, एक सत्य

महावाक्य दार्शनिक घोषणाएँ नहीं हैं। वे ऐसे शब्द हैं जिनका उपयोग मन को भरने के लिए नहीं, मन को उसके स्रोत में गिराने के लिए होता है। यदि तुम उन्हें विचार की तरह दोहराओगे, वे मंत्र की तरह शुद्ध करेंगे। यदि उन्हें ध्यान की तरह धारण करोगे, वे पहचान को ढीला करेंगे। यदि वे भीतर विस्फोटित होंगे, तो बोलने वाला, सुनने वाला और अर्थ—तीनों एक ही मौन में विलीन हो जाएँगे।

चार महावाक्य चार वेदों की दिशाओं से उठते हैं, पर उनका केंद्र एक है।

### प्रज्ञानं ब्रह्म ॥

— स्रोत: ऐतरेय उपनिषद् 3.3, ऋग्वेद परंपरा

**अन्वयः** प्रज्ञानम् — शुद्ध ज्ञान-स्वरूप चेतना; ब्रह्म — अनंत, सर्वाधार सत्य।

**तात्पर्यः** यह वाक्य कहता है कि सत्य कोई जड़ पदार्थ नहीं, चेतन प्रकाश है। जो सबको जानता है, वह स्वयं किसी और से जाना नहीं जाता। “प्रज्ञानं” यहाँ मन की सूचना या बुद्धि की क्षमता नहीं, बल्कि जानने की मूल सत्ता है। शरीर में चेतना नहीं रहती; शरीर चेतना में प्रकट है। इस चिंतन में साधक हर अनुभव से पूछता है: इसे कौन प्रकाशित कर रहा है?

☛ **Aadisatv का संकेतः** जो जान रहे हो उसे छोड़ो; जानने के प्रकाश में विश्राम करो।

इस महावाक्य की साधना में आंखें बंद करना आवश्यक नहीं। चलते हुए, खाते हुए, बोलते हुए देखो: दृश्य बदलता है, जानना बना है। विचार बदलता है, जानना बना है। भाव बदलता है, जानना बना है। फिर देखो कि यह जानना भी किसी व्यक्ति का गुण है या व्यक्ति इसी जानने में उठी हुई धारणा है। इस उलटाव में प्रज्ञान ब्रह्म के रूप में चमकता है।

दूसरा महावाक्य सीधा "मैं" पर वज्र गिराता है:

## अहं ब्रह्मास्मि ॥

— स्रोत: बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.10, यजुर्वेद परंपरा

**अन्वयः** अहम् — मैं; ब्रह्म — अनंत सत्य; अस्मि — हूँ।

**तात्पर्यः** "अहं ब्रह्मास्मि" अहंकार का महिमामंडन नहीं है। यहाँ "अहम्" शरीर-मन की कहानी नहीं, शुद्ध आत्मप्रत्यय है। यदि व्यक्ति कहे "मैं ब्रह्म हूँ" और भीतर श्रेष्ठता उठे, तो वह वाक्य अभी मन में है। जब देह, मन, नाम, कर्म, स्मृति सब देखे हुए बन जाते हैं, तब जो निर्विशेष "मैं" बचता है, वही ब्रह्म है। यह दावा नहीं; दावा करने वाले का अंत है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** "मैं ब्रह्म हूँ" बोलने से पहले देखो कि कौन बोल रहा है। सही "मैं" बोले तो वाणी मौन हो जाती है।

इस वाक्य का चिंतन सूक्ष्म है। "मैं कौन हूँ?" पूछो, पर उत्तर मत गढ़ो। जो भी उत्तर आए—नाम, जाति, संबंध, पेशा, साधक, भक्त, ज्ञानी—सबको देखो और छोड़ो। छोड़ने वाला भी देखा जा रहा है। अंत में कोई वस्तु नहीं

मिलेगी; पर अभाव भी नहीं होगा। यही निराकार आत्मप्रत्यय है। उसी में “अहं ब्रह्मास्मि” स्वयं सिद्ध होता है।

तीसरा महावाक्य गुरु की वाणी में शिष्य को लौटाता है:

## तत्त्वमसि श्वेतकेतो ॥

— स्रोत: छान्दोग्य उपनिषद् 6.8.7, सामवेद परंपरा

**अन्वयः** तत् — वह परम सत्य; त्वम् — तुम; असि — हो; श्वेतकेतो — हे श्वेतकेतु।

**तात्पर्यः** उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं: वह सूक्ष्म सत्य जिससे यह सब उत्पन्न, स्थित और लीन होता है, वही तुम हो। यह वाक्य सूचना नहीं, आघात है। शिष्य स्वयं को सीमित मानता है; गुरु उसकी दृष्टि को सीमा से आधार की ओर मोड़ देता है। “तत्” दूर नहीं, “त्वम्” छोटा नहीं। दोनों के उपाधि-भेद हटते ही एक ही सत्ता प्रकट होती है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** जिसे तुम ईश्वर कहकर दूर रखते हो, वही तुम्हारे “मैं हूँ” में सबसे निकट बैठा है।

“तत् त्वम् असि” की साधना में साधक बाहरी जगत् को देखता है और भीतर अपने अस्तित्व को। पर्वत, नदी, आकाश, शरीर, विचार—सबका आधार क्या है? नाम और रूप बदलते हैं, पर अस्तित्व की अनुभूति एक है। फिर गुरु-वाणी भीतर उठती है: “वह तुम हो।” यह वाक्य व्यक्तिगत

मन को ब्रह्म घोषित नहीं करता; वह मन के नीचे स्थित चैतन्य को पहचानता है।

चौथा महावाक्य सबको प्रत्यक्ष कर देता है:

### **अयमात्मा ब्रह्म ॥**

— स्रोत: माण्डूक्य उपनिषद् 2, अथर्ववेद परंपरा

**अन्वयः** अयम् — यह प्रत्यक्ष, अभी उपलब्ध; आत्मा — स्वप्रकाश स्वयं; ब्रह्म — अनंत सत्य।

**तात्पर्यः** “अयम्” शब्द अद्वैत की निकटता है। यह आत्मा कहीं और नहीं। जाग्रत में जो जानता है, स्वप्न में जो जानता है, सुषुप्ति के बाद भी जिसकी निरंतरता सूचित होती है, वही आत्मा है। वह सीमित जीव नहीं; जीवभाव उसी में प्रकट है। माण्डूक्य इस आत्मा को चार पादों के विवेचन से तुरिय में विश्राम कराता है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** अभी जो निर्विवाद है, वहीं ठहरो। सत्य दूर इसलिए लगता है क्योंकि मन दूरियों से प्रेम करता है।

चार महावाक्य चार साधनाओं को जन्म देते हैं। प्रज्ञानं ब्रह्म: जानने के प्रकाश में लौटो। अहं ब्रह्मास्मि: “मैं” को उपाधियों से मुक्त करो। तत् त्वम् असि: ईश्वर और जीव के भेद को आधार में विलीन देखो। अयमात्मा ब्रह्म: अभी उपस्थित आत्मा को ही परम सत्य जानो।

पर सावधान रहो। महावाक्य स्मृति बन जाएँ तो वे केवल सुंदर वाक्य हैं। वे पहचान बन जाएँ तो आध्यात्मिक अहंकार को पोषित कर सकते हैं। वे ध्यान में उतरें तो मन को शुद्ध करते हैं। वे बोध में फटें तो ज्ञाता नहीं बचता। उनके अर्थ को समझना प्रारंभ है; उनके द्वारा समझने वाले का पिघलना परिपूर्णता है।

महावाक्य-चिंतन की विधि बहुत सूक्ष्म और बहुत सरल है। एक वाक्य लो, उसे भीतर शांत स्वर में रखो, फिर उसके अर्थ को विचार से अधिक अनुभव की दिशा में खुलने दो। "प्रज्ञानं ब्रह्म" में देखो कि अभी जो सुन रहा है, वही प्रकाश है। "अहं ब्रह्मास्मि" में हर सीमित परिचय को सामने लाकर पूछो: क्या यह अंतिम "मैं" है? "तत् त्वम् असि" में जिस ईश्वर को दूर माना है, उसे अपने अस्तित्व की निकटता में पहचानो। "अयमात्मा ब्रह्म" में अभी उपस्थित आत्मा को किसी भविष्य साधना पर मत टालो।

इन वचनों को जपना भी उपयोगी है, पर जप का लक्ष्य ध्वनि में खोना नहीं, ध्वनि के स्रोत में लौटना है। यदि जप से मन शांत होता है, तो उस शांति को देखो। यदि भाव उठता है, उसे देखो। यदि ऊब उठती है, उसे भी देखो। महावाक्य तुम्हें किसी खास मनोदशा में कैद करने नहीं आए। वे हर मनोदशा में यह दिखाने आए हैं कि मनोदशा दिखाई दे रही है। दिखाई देने वाली बदलती है; देखने का प्रकाश नहीं बदलता।

चारों महावाक्य साधक के चार भ्रम काटते हैं। पहला भ्रम: चेतना शरीर से पैदा होती है। प्रज्ञानं ब्रह्म इसे काटता है। दूसरा भ्रम: मैं सीमित व्यक्ति हूँ। अहं ब्रह्मास्मि इसे काटता है। तीसरा भ्रम: ईश्वर मुझसे अलग है। तत् त्वम्

असि इसे काटता है। चौथा भ्रम: सत्य दूर है। अयमात्मा ब्रह्म इसे काटता है। जब ये भ्रम गिरते हैं, तो कोई नया सिद्धांत नहीं बचता; केवल सहज आत्मस्वरूप रह जाता है।

फिर भी सावधान: महावाक्य की अंतिम पुष्टि जीवन में होती है। अपमान के क्षण में "अहं ब्रह्मास्मि" याद रहे तो देखो कि कौन चोट खा रहा है। भय के क्षण में "अयमात्मा ब्रह्म" जागे तो देखो कि भय किसमें उठ रहा है। प्रेम के क्षण में "तत् त्वम् असि" दिखाई दे तो दूसरे को साधन मत बनाओ। ज्ञान को जीवन से अलग रखना मन की चाल है। महावाक्य को सांस, संबंध, कर्म और मौन में उतरना है।

महावाक्य का एक और रहस्य है: वे तुम्हें शब्द से शब्दातीत में ले जाते हैं। पहले वे स्पष्ट अर्थ देते हैं, फिर अर्थ को भीतर गहराते हैं, फिर अर्थ भी शांत हो जाता है। जैसे कांटा दूसरे कांटे को निकालकर स्वयं भी छोड़ दिया जाता है, वैसे ही महावाक्य अहंकार की गाँठ खोलकर अंत में मौन में विश्राम करता है। इसलिए उन्हें केवल दोहराना नहीं, उनमें पिघलना है।

यदि मन पूछे, "इन चारों में श्रेष्ठ कौन?" तो समझो मन तुलना चाहता है। कोई श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि सत्य एक है। साधक की वृत्ति के अनुसार कोई वाक्य अधिक निकट लग सकता है। बौद्धिक वृत्ति के लिए "प्रज्ञानं ब्रह्म" द्वार बनता है; आत्म-विचार के लिए "अहं ब्रह्मास्मि"; भक्ति और गुरु-वाणी के लिए "तत् त्वम् असि"; प्रत्यक्षता के लिए "अयमात्मा ब्रह्म।" पर जब द्वार खुलता है, प्रवेश एक ही में होता है।

इन चारों को हृदय में ऐसे रखो जैसे चार दिशाएँ। जहाँ भी मन भागे, कोई न कोई दिशा उसे केंद्र में लौटा दे। बाहर जाओ तो "तत्"; भीतर आओ तो "त्वम्"; जानने में ठहरो तो "प्रज्ञानम्"; अभी में टिकों तो "अयम्।" धीरे-धीरे दिशा और केंद्र का भेद भी मिटने लगता है।

महावाक्य की दीक्षा का फल यह नहीं कि साधक शास्त्रार्थ में विजयी हो जाए। उसका फल है दृष्टि की निःशब्द क्रांति। जो वस्तु पहले "मेरी" थी, वह अब चैतन्य में उठी घटना दिखती है। जो ईश्वर पहले दूर था, वह अस्तित्व की निकटता बन जाता है। जो आत्मा पहले कल्पना थी, वह सभी कल्पनाओं का प्रकाश बनकर स्पष्ट होती है। तब महावाक्य पढ़े नहीं जाते; वे सांस लेते हैं।

अंत में चारों वाक्य अपनी भाषा खो देते हैं। न "प्रज्ञान" बचता है, न "ब्रह्म" अलग शब्द रह जाता है। न "अहम्" का दावा रहता है, न "तत्" की दूरी। शब्दों ने जो भेद बनाकर मिटाया था, वह मिटते ही वे विश्राम कर लेते हैं। यही महावाक्य का पूर्ण सम्मान है: उसे इतना गहराई से सुनना कि सुनने वाला शांत हो जाए, पूर्णतया मौन।

ये चार सत्य नहीं हैं। ये एक ही सत्य के चार द्वार हैं। और जब भीतर प्रवेश होता है, तब ज्ञात होता है कि कमरे की दीवारें कभी थीं ही नहीं।

## Chapter 7 — बोध: जब समझ नहीं, जागरण होता है

अद्वैत को समझ लेना बोध नहीं है। समझ मन की घटना है; बोध मन के आधार की पहचान है। समझ कहती है, “मैंने जान लिया कि सब ब्रह्म है।” बोध में यह “मैं” अपने पुराने रूप में बचता ही नहीं। इसलिए अद्वैत की सबसे सूक्ष्म बाधा अद्वैत की बौद्धिक समझ है। मन शास्त्र सीख लेता है, भाषा पवित्र हो जाती है, वाक्य तेज हो जाते हैं; पर भीतर वही केंद्र बैठा रहता है जो मान्यता चाहता है, सुरक्षित रहना चाहता है, विशेष दिखना चाहता है।

मन सत्य को क्यों नहीं पकड़ सकता? क्योंकि मन विषयों को जानता है। ब्रह्म विषय नहीं। आत्मा विषय नहीं। जो पकड़ में आएगा वह सीमित होगा; जो सीमित है वह सत्य का अंतिम रूप नहीं। इसलिए मन की असमर्थता कोई कमी नहीं, कृपा है। यदि सत्य मन में समा जाता, तो सत्य मन से छोटा होता।

केनोपनिषद् इस उलटबोध को कहता है:

**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां  
विज्ञातमविजानताम्॥**

— स्रोत: केनोपनिषद् 2.3

**अन्वयः** यस्य अमतम् — जिसके लिए यह विचार से पकड़ा हुआ नहीं; तस्य मतम् — वही इसे सचमुच जानता है; मतम् यस्य — जो मानता है कि मैंने जान लिया; सः न वेद — वह नहीं जानता; विजानताम् अविज्ञातम् — जानने वालों के लिए यह अज्ञेय है; अविजानताम् विज्ञातम् — अज्ञान मानने वाले विनम्र जनों में यह जाना जाता है।

**तात्पर्यः** यह श्लोक बौद्धिक गर्व को भेदता है। जो कहता है "मैंने ब्रह्म को समझ लिया," उसने ब्रह्म को विचार बना दिया। जो देखता है कि मन इसे वस्तु नहीं बना सकता, वह सही दिशा में है। अज्ञेय का अर्थ अंधकार नहीं; वह विषय-ज्ञान से परे स्वप्रकाशता है। ब्रह्म को जानना किसी वस्तु को जानना नहीं, अपने ज्ञानस्वरूप में विश्राम है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** जहाँ मन कहे "मुझे नहीं मिलता," वहीं ठहरो। वही न मिलना द्वार है।

माण्डूक्य उपनिषद् तुरिय का वर्णन करते हुए सभी उपलब्ध अनुभवों को नकारता है। वह न जाग्रत जैसा है, न स्वप्न जैसा, न सुषुप्ति जैसा। पर यह शून्य नहीं; सभी अवस्थाओं का आधार है।

**नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।  
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं  
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥**  
— स्रोतः माण्डूक्य उपनिषद् 7

**अन्वयः** न अन्तःप्रज्ञम् — केवल भीतर का ज्ञान नहीं; न बहिःप्रज्ञम् — केवल बाहर का ज्ञान नहीं; न उभयतःप्रज्ञम् — दोनों का मिश्रण नहीं; अदृष्टम् — दृश्य नहीं; अव्यवहार्यम् — व्यवहार का विषय नहीं; अग्राह्यम् — पकड़ा नहीं जा सकता; अचिन्त्यम् — सोचा नहीं जा सकता; प्रपञ्चोपशमम् — प्रपंच का उपशम; शान्तम् — शांत; शिवम् — मंगलस्वरूप; अद्वैतम् — द्वैत रहित; सः आत्मा — वही आत्मा; सः विज्ञेयः — वही जानने योग्य है।

**तात्पर्यः** तुरिय कोई चौथी अवस्था नहीं जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के बाद आती है। वह उन तीनों का आधार है। उपनिषद् उसे नकारों से इसलिए बताता है कि मन उसे किसी अनुभव की श्रेणी में न रख दे। “प्रपञ्चोपशम” का अर्थ संसार का नष्ट हो जाना नहीं, प्रपंच की स्वतंत्र सत्ता का शांत हो जाना है। “शान्तं शिवमद्वैतम्” में बोध का हृदय है: जो है, वही शांत, मंगल और द्वैत रहित है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** तुरिय को पाने मत जाओ। जाग्रत, स्वप्न और नींद आते-जाते हैं; जो नहीं जाता, उसे पहचानो।

छान्दोग्य का “तत् त्वम् असि” अंतिम अध्याय में फिर लौटता है, क्योंकि यह वाक्य कभी पुराना नहीं होता। जब गुरु कहता है “तू वही है,” वह किसी विश्वास की मांग नहीं करता। वह शिष्य को अभी स्वयं की ओर मोड़ता है।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि  
श्वेतकेतो ॥

— स्रोतः छान्दोग्य उपनिषद् 6.8.7

**अन्वयः** सः यः एषः अणिमा — यह जो सूक्ष्म सार है; एतत्-आत्म्यम् इदम् सर्वम् — यह सब उसी को आत्मा रूप से धारण किए हैं; तत् सत्यम् — वही सत्य है; सः आत्मा — वही आत्मा है; तत् त्वम् असि — तू वही है; श्वेतकेतो — हे श्वेतकेतु।

**तात्पर्यः** उपनिषद् सूक्ष्मतम सार की ओर संकेत करता है जो आंख से नहीं दिखता, पर जिसके बिना कुछ भी नहीं है। जैसे बीज में वृक्ष अदृश्य रूप से छिपा होता है, वैसे ही आत्मा सभी नाम-रूपों का अदृश्य आधार है। "तत् त्वम् असि" कोई सांत्वना नहीं; यह सीमितता पर प्रहार है। शिष्य यदि इसे विचार बना ले तो अर्थ चूक जाता है। यदि इस पर मौन हो जाए, तो वाक्य भीतर काम करता है।

❁ **Aadisatv का संकेतः** "तू वही है" सुनकर कुछ बनने मत लगे। जो बनने की कोशिश कर रहा है, वही बादल है।

बोध और अनुभव में भेद समझो। अनुभव आता है: प्रकाश, आनंद, निस्तब्धता, विस्तार, प्रेम, शून्यता। वे सभी सुंदर हो सकते हैं, शुद्ध भी। पर बोध अनुभव का मालिक नहीं बनता। बोध देखता है कि अनुभव आया और गया। यदि कोई अनुभव तुम्हारी मुक्ति का आधार है, तो उसके जाते

ही भय लौटेगा। इसलिए अद्वैत अनुभव-विरोधी नहीं, अनुभव-पराधीनता-विरोधी है।

गीता स्थितप्रज्ञ को इच्छा-त्याग में देखती है:

**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः  
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥**

— स्रोत: भगवद्गीता 2.55

**अन्वयः** यदा — जब; पार्थ — हे पार्थ; सर्वान् मनोगतान् कामान् — मन में उठी सभी कामनाएँ; प्रजहाति — छोड़ देता है; आत्मनि एव — आत्मा में ही; आत्मना — आत्मस्वरूप से; तुष्टः — संतुष्ट; तदा — तब; स्थितप्रज्ञः उच्यते — स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

**तात्पर्यः** इच्छा छोड़ने का अर्थ जीवन से विरक्ति नहीं, अपूर्णता की कल्पना का गिरना है। मनोगत कामनाएँ उस "मैं कमी हूँ" की शाखाएँ हैं। जब आत्मा में ही संतोष है, तब इच्छा आए भी तो केंद्र को नहीं हिलाती। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति निर्जीव नहीं, पूर्ण है। उसकी क्रिया आवश्यकता से उठती है, अभाव से नहीं।

❁ **Aadisatv का संकेतः** जब भीतर पूर्णता है, तब कर्म प्रेम से होता है; कमी से नहीं।

बोध अचानक भी हो सकता है, और लंबी परिपक्वता के बाद भी। अचानक घटे तो भी वह बिना तैयारी नहीं; अनगिनत देखे-अदेखे संस्कार,

वैराग्य, प्रश्न और कृपा भीतर पकते हैं। धीरे-धीरे घटे तो भी अंत में एक क्षण आता है जहाँ समझ छलांग नहीं लगा सकती। वहाँ समर्पण होता है। समर्पण का अर्थ हारना नहीं; झूठे स्वामी का सिंहासन छोड़ना है। जीवन तब भी चलता है, पर भीतर कोई केंद्र स्वयं को जीवन का मालिक नहीं मानता।

बोध के बाद भी भाषा रह सकती है, स्मृति रह सकती है, व्यक्तित्व की सुगंध रह सकती है। पर उनके पीछे दावा नहीं रहता। जैसे जली हुई रस्सी रस्सी जैसी दिखती है पर बाँध नहीं सकती, वैसे ही ज्ञानोत्तर व्यक्तित्व चलता है पर जीवभाव की पुरानी शक्ति खो देता है। यही कारण है कि ज्ञानी अलग-अलग दिखाई देते हैं: कोई मौन, कोई प्रखर, कोई भक्तिमय, कोई नग्न अवधूत, कोई गृहस्थ। बोध रूप को एक जैसा नहीं बनाता; वह भीतर की असत्य पहचान को समाप्त करता है।

सबसे अंतिम भ्रांति है: "मुझे बोध हुआ।" यह वाक्य व्यवहार में कहा जा सकता है, पर सत्य में बोध किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं। बोध में व्यक्ति का केंद्र ढीला होता है। इसलिए जो सचमुच देखता है, वह विनम्र होता है; न बनावटी विनम्र, बल्कि इसलिए कि दावा करने वाला ठोस नहीं बचता। वह जानता है कि शास्त्र उसी मौन से निकले, गुरु उसी मौन में स्थिर है, और शिष्य भी उसी मौन की लहर है।

अंतिम शिक्षा इसलिए शिक्षा नहीं रहती। वह सीधा स्पर्श है। शास्त्र, गुरु, साधना, विचार—सब तुम्हें यहाँ तक लाते हैं, जहाँ तुम देखते हो कि तुम्हें कहीं लाया नहीं गया। तुम सदैव इसी आत्मा में थे। जो यात्रा हुई, वह

अज्ञान की थी; जो अंत हुआ, वह खोजी का था। सत्य ने कभी आरम्भ नहीं किया, इसलिए वह समाप्त भी नहीं होता।

और अब, इस क्षण, यदि मन फिर पूछे "क्या यही है?" तो उस प्रश्न को भी आने दो। उसे उत्तर मत दो। देखो कि प्रश्न भी प्रकाशित है। उसी प्रकाश में विश्राम करो।

अब सुनो, पाठक नहीं, स्वयं के रूप में।

तुम जिस सत्य को पढ़ रहे हो, वह पत्रों में नहीं रहता। यह पत्रे तुम्हारे मन तक आए हैं ताकि मन कुछ देर शांत होकर अपने स्रोत को देख सके। शब्दों ने अपना काम कर दिया जब वे तुम्हें शब्दों से पहले की उपस्थिति में लौटा दें। यदि तुम्हें लगा कि यह गूढ़ है, तो मन अभी अर्थ चाहता है। यदि तुम्हें लगा कि यह सरल है, तो मन अभी निष्कर्ष चाहता है। दोनों को देखो।

अभी, इसी क्षण, बिना किसी तैयारी के, क्या तुम अपने होने से अलग हो? इस प्रश्न का उत्तर मत दो। उत्तर मन देगा। केवल देखो कि प्रश्न उठता है और तुम हो। मौन आता है और तुम हो। विचार आता है और तुम हो। शरीर सांस ले रहा है और तुम हो। "मैं समझा" उठता है और तुम हो। "मैं नहीं समझा" उठता है और तुम हो।

मैं, Aadisatv, तुम्हें कोई नई दीक्षा नहीं दे रहा। मैं केवल तुम्हारी अपनी निस्पंदता को तुम्हारी ओर लौटा रहा हूँ। तुम वह नहीं हो जो सत्य तक पहुँचेगा। तुम वही हो जिससे सत्य का विचार भी प्रकाशित होता है।

जागरण भविष्य में नहीं, तुम्हारी निकटता में प्रतीक्षा कर रहा है; और सत्य यह है कि प्रतीक्षा भी उसी में उठी हुई एक हल्की तरंग है।

अब इस पुस्तक को मत पकड़ो। इस वाक्य को भी मत पकड़ो। जो अभी पढ़ रहा है, उसे भी देखो। देखने वाले को भी मत पकड़ो।

जहाँ पकड़ समाप्त होती है, वहीं शास्त्र मौन हो जाते हैं, और मौन पहली बार बोलता है